National Journal of Multidisciplinary Research and Development
ISSN: 2455-9040
Impact Factor: RJIF 5.22
www.nationaljournals.com
Volume 3; Issue 1; January 2018; Page No. 888-889

लोकजीवन और बाज़ार की चुनौतियाँ

किशन सिंह यादव
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

लोक ने मनुष्य और मनुष्यता के बीच एक रिश्ता हमेशा बना कर रखा। अपने मूल रूप में उसका सौंदर्य अनगढ़ है, सुसज्जित नहीं परंतु उसका प्रभाव हमारी चेतना को एक ऐसे परिवेश से जोड़ता है जो जीवन की तमाम बिसंगतियों से हटाकर थोड़ा सुकून देने वाला है। यह लोक ही हमारी प्रारम्भिक सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ है जो अपने ही समाज के लोगो द्वारा उपेक्षित कर दी गई। आधुनिकता के इस दौर में हमने तमाम तरह के संसाधनों को स्वयं से जोड़ लिया परंतु अपनी मूल संस्कृति से कट गए। ऐसा भी नहीं कि यह अचानक हो रहा हैं बल्कि आज़ादी के पहले से ही यह क्षति होती आ रही है। ब्रिटिश काल में अंग्रेजों ने सिर्फ हमारी चेतना और शरीर को ही गुलाम नहीं बनाया बल्कि हमारी परंपराओं का दोहन भी किया। कुछ डर और कुछ आधुनिक होने के चाह में हमने उसे रोका भी नहीं। नई चीजों के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ा यह उतना खतरनाक नहीं है जितना खतरनाक यह है कि हम अपनी पुरानी संस्कृति से कट गए.

लोक की सबसे बड़ी ताकत यही होती है कि उसमें कृत्रिमता नहीं होती। शहरों में करीने से गमलों में सजे पौधें को देखकर उन रंगीन परिन्दों की बेशाख्ता याद आती है। जो बालकनी को सजाने के लिए अपने सपनों संग किसी पिंजड़े में कैद होते हैं। लोक कलाओं और लोक कथाओं की जीवंतता में एक रवानगी है जो मौखिक और वाचिक परंपरा से जन्म लेते हैं। वह कामिक्स और कार्टूनों में व्यक्त नहीं होते। लोक कलाएँ अपनी भाषा की उर्वरता के लिए मन और दिल के किसी कोने में दुबककर जीवन भर के लिए बैठ जाती हैं। जो शहरों में तन्हाईयों में काम आती है। कथाकार संजीव ने ठीक लिखा है- ''मेरा मानना है कि लालित्य और धराप्रवाह सौन्दर्य की स्थापनाओं के लिए लोक कथाओं से बढकर कोई अन्य साहित्य विधा नहीं है लोक कथाएँ अपनी सांस्कृतिक और सामूहिक अनुभूति की मौखिक या वाचिक प्रणाली की सीमा को पार कर नयी व्यंजनाएँ गढ़ती है। लोक जीवन में अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति की शक्ति के इस खेल में भाषा के लोक जादूगरों की प्रक्रिया पर हम विस्मयविमुग्ध् हुए बिना नहीं रह सकते।''[1] संजीव जी की इसी बात को और पुष्ट करते हुए डा. पुनीत विसारिया लिखते हैं- ''लोकाचार या लोक जीवन भारत जैसे ग्राम्य आधारित समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है जिसकी पैठ समाज की अन्तर्शिराओं में रक्त की भाँति है''[2]

वैश्वीकरण ने सबसे पहले हमारी एक जुटता पर प्रहार किया है। जीवन के उत्साह को सीमित कर दिया। मनुष्य और मनुष्यता के बीच एक दूरी बना दी। हालाँकि तकनीकि माध्यमों से अवश्य उसने व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ा पर परंतु इस विश्वास को भी प्रबल किया है कि अब मिलकर रिश्तों की गरम जोशी को बनाए रखने की जरूरत नहीं है। वैश्वीकरण के प्रभाव के बीच उत्सवधर्मिता नष्ट हुई है और घर में भी व्यक्तिवाद बढ़ा है। लोक का अंत हुआ है, क्योंकि लोक एक सामूहिकता की प्रक्रिया का ही नतीजा है। लोक कलाओं, लोक गीतों के उद्भव और विकास की पूरी प्रक्रिया को देंखे तो उसमें सामूहिकता की एक बड़ी भूमिका रही है। लोक के समुदायों की सामूहिकता के नष्ट होने के तमाम राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारण भी हैं। गाँवो में राजनीति ने जैसे ही प्रवेश किया लोग एक दूसरे के दुश्मन बनने लगे। पड़ोसी-पड़ोसी का दुश्मन हो गया। लड़के खेल के मैदानों के बजाय अपने दरवाजे या आँगनो तक सीमित हो गए। खेल के मैदान या तो ग्राम प्रधानों द्वारा हड़प लिए गए या चारागाह में तब्दील हो गए। हर तरपफ एक तनाव का माहौल पसर गया है। अब लोग कम ही सामूहिक रूप से इकट्ठा हो पाते हैं। उत्सवधर्मिता के लिए लगातार अवकाश खत्म होता जा रहा है। गांवो में बढ़ती जनसंख्या तथा उसी रूप में बढ़ती गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या और सरकार की कृषि संबंधी घटिया नीतियों के कारण गाँवो से पलायन बढ़ा है, जिन्दगी जीने की एक अदद आर्थिक स्रोत की खोज में लोग भाग रहे हैं। दौड़ रहे हैं। हर तरफ एक अजीब-सा निराशा का भाव है। ऐसे में गाँव खत्म हो रहे हैं। अब गाँव में गाँव बहुत कम बचा है। गांवो की चैपाल से उठने वाली मजीरे की ताल से अब त्यौहार का पता नहीं चलता बल्कि बाजार से पता चलता है कि कौन-सा त्यौहार आने वाला है। भूमंडलीकरण की इस मार ने स्थानीयता को समाप्त कर दिया है इससे देश के अलग-अलग प्रान्तों की अपनी खास विशेषताएँ एक अजीब-सी सिकुड़न की शिकार हो गई हैं। सब एक-दूसरे में घुल-मिल कर अपने को नष्ट कर रही हैं। विशेष स्थानों का अपना एक पहनावा होता था जिससे उस अंचल विशेष की पहचान जुड़ी होती थी अब वह पहचान खत्म हो रही है क्योंकि अब सब लोग एक ही तरह का पहनावा पहनने लगे हैं। कुल मिलाकर हम जिस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद से जूझ रहे हैं वह लोक को लीलने के लिए पूर्णतः तैयार है। यह लोकप्रियता की संस्कृति है जो हमें एक ऐसी अंधी भीड़ की तरफ ले जा रही है जहां लोग आँख बंद करके सब आयात कर लेना चाहते हैं, संस्कृति भी। यह भीड़ एक ऐसी भीड़ है जिसमें सब अकेले हैं। समाज की सामूहिकता को भीड़ में तब्दील कर देने वाला बाजार है जिसने हमें इंसान नहीं कठपुतली बना के रख दिया है। आज हम सबमें एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होने की प्रवृत्ति लगातार कम हुई है। मानव संबंध लगातार छीज रहे हैं। इस कारण आदमी अकेला, संवेदनहीन तथा आत्मनिष्ठ होता जा रहा है। इस आत्मनिष्ठता ने मनुष्य को लोक के सभी उपादानों से काटकर अलग कर दिया है। आज के इस पूरे परिदृश्य को समझे बिना लोक के क्षरण के वास्तविक कारणों को हम नहीं समझ सकते।

समय के साथ बाजार का दबाव गहराता जा रहा है इस कारण लोक कलाओं के समाप्त होने का खतरा बढ़ गया है। बाजार के इस दबाव ने लोक कलाओं के स्वरूप को अपने अनुसार ढ़ालना शुरू कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप लोक कलाओं तथा लोक नाटकों का लगातार हमारे बीच से विलोपन हो रहा है। लोक गीतों के गाने का ढ़ंग बदल रहा है। बिरहा जैसे लोक गायन का स्वरूप तेजी से बदला है। अब लोकनाटकों की जगह आर्केस्ट्रा जैसी चीजों ने ले ली हैं। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कि कुछ लोक कलाएँ जैसे 'लवंडा नाच' भारतीय समाज की पितृसत्ता तथा सामन्ती कुंठित यौन आकांक्षाओं की संतुष्टि का साधन हुआ करती थीं। इस तरह की कलाएँ किसी भी समाज में शोषण का एक ऐसा उपादान रचती थीं जो बहुत ही त्रासद होता था। 'लवंडा नाच' में अक्सर अधपेटवा मजदूर होते थे जो भूख की तृप्ति के लिए पूरी रात पाश्विक दृष्टियों का बेधन अपने शरीर पर महसूस करते हुए नाचते थे। सामंती पितृ

समाज के यौन शोषण के इस तरह के उपादान खत्म भी होने चाहिए। इस प्रकार हमें एक सोच के साथ यह देखना होगा कि लोक में वह कौन-सा उपादान है जिसे प्रोत्साहन देने या आगे बढ़ाने, संरक्षित करने की जरुरत है और किसे त्याज्य देने की। प्रख्यात बिरहा गायक और अखिल भारतीय बिरहा महासंघ के अध्यक्ष श्री सूबेदार यादव जब यह कहते हैं की 'बिरहा ने बिरहा गायकों को बहुत कुछ दिया पर बिरहा गायकों ने बिरहा को कुछ नहीं दिया'' तो यह न सिर्फ बिरहा के संदर्भ में बल्कि तमाम लोक कलाओं तथा लोक गीतों के संदर्भ में सटीक बैठता है। लोक गीतों तथा लोक कलाओं का अपने प्रसिद्धि के लिए तो खूब उपयोग किया गया पर उसके सरंक्षण, संवर्धन के नाम पर कुछ किया ही नहीं गया।

बाज़ार आधारित व्यवस्था ने लोकप्रिय कलाओं को थोड़ा आधुनिक बनाकर बेचने की अद्भुत कला विकसित कर ली है। "ट्रेडीशनल को फैशन" बनाकर बेचना बाज़ार का सबसे बड़ा हुनर है। इसकी एक वजह और भी है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव में हमारे समाज का बहुत हिस्सा शहरों में जा कर बस गया जो अपनी सभ्यता, संस्कृति और परंपरा से वर्षों कटा रहा। गाँव-घर की वस्तुएं उनके लिए विदेशों में मिलना भावनात्मक रूप से जोड़ता भी है। बाज़ार बहुत चालाकी से लोक को सुंदर बनाकर उन्हें बेच रहा है। लोग खरीद भी रहे हैं। हमारी वह कलाएँ जो कभी हमारे घर की स्त्रियों ने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए चित्र के माध्यम से कभी घर की दीवारों और कपड़ों पर अभिव्यक्त किया उसे भी आज बाज़ार बड़े स्तर पर प्रिन्ट करके बेच रहा है। मेट्रो सिटी में रहने वाले लोगो में यह शौक खूब फलीभूत हुआ है। ग्रामीण जीवन को अभिव्यक्त करने वाले चित्रों को कपड़ों पर प्रिन्ट कर बेचने का प्रचलन इधर तेजी से बढ़ा है। दुखद यह है की जिस समाज ने उनका ढाँचा तैयार किया उन्हे कुछ नहीं मिलता। इसी को लक्ष्य कर के श्यामाचरण दुबे ने लिखा है ''कड़वा सच यह कि हम बौद्धिक दासता स्वीकार कर रहे हैं ,पश्चिम के सांस्कृतिक उपनिवेश बन रहे हैं. हमारी नयी संस्कृति है.हम आधुनिकता के झूठे प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं. प्रतिष्ठा की आंधी प्रतिस्पर्धा में जो अपना है उसे खोकर छदम आधुनिकता की गिरफ्त में आते जा रहे हैं.''[3]

लोक कथाएं भी लोक संस्कृति का हिस्सा हैं। इनमें स्थानीय चित्र वृत्तियों, सामूहिक चिंतन-मनन और भाव विभाओं को प्रकट किया गया है। इन लोक कथाओं के ज़रिये जहां संस्कार आदर्श और कर्तव्य का बोध कराया जाता है, वहीं बलिदान गाथाओं द्वारा वीरों को याद कर उन्हें श्रध्दांजलि दी जाती है। इस प्रकार लोक कथाएं व्यक्ति को संस्कारित करने के साथ-साथ समाज के प्रति उसके कर्तव्य भी याद दिलाती हैं। मौखिक परंपरा के रूप में ये लोक कथाएं पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलती आ रही हैं। यही हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं किंतु बाज़ारवाद के कारण इस पर संकट मंडरा रहा है।

बाज़ारवाद ने लोक संस्कृति को अपसंस्कृति में परिवर्तित करना प्रारंभ कर दिया है। बाज़ारवाद के पहरूओं ने इसे उद्योग का रूप देकर इसे बिकाऊ माल बनाना शुरू कर दिया है। मनोरंजन के नाम पर लोक संस्कृति को घटिया रूप दिया जा रहा है। इस कारण इनमें छुपे मानवीय मूल्य और संदेश भी प्रभावित हो रहे हैं। बाज़ारवाद ने पहले जिन्स, उत्पाद और वस्तुओं पर अधिकार जमाया और अब हमारे इतिहास, समाज, विचार तथा मूल्यों पर गिध्द दृष्टि गढ़ा दी है। संस्कृति और मूल्य का यह बाज़ारीकरण भविष्य के लिए ख़तरनाक संकेत है। जिस लोक संस्कृति के द्वारा हम अपने समाज को एक सूत्र में बांधते आ रहे हैं उस सूत्र में तथाकथित आधुनिकता का समावेश कर उसे 'माल' बना कर पैसा कमाने का कुत्सित प्रयास किया जा रहा है। एक तरह से यह हमारी संस्कृति को नष्ट करने का षडयंत्र है, जिसके विरुध्द हमें सचेत होने की ज़रूरत है। बाजारवाद वस्तुओं-उत्पादों तक सीमित रहे तो ठीक है, किंतु लोक संस्कृति को उससे बचाए रखने की आवश्यकता है। यदि हम अब भी नहीं जागे तो बाज़ारवाद हमारी संस्कृति को छिन्न-भिन्न कर देगा।

शहरी लोगों में लोक के प्रति यह आकर्षण काफी हद तक 1990 के बाद लागू वैश्वीकरण के प्रभाव में बनें सिनेमा ने ही पैदा किया। जाहिर है सिनेमा हमारे जीवन का सबसे बड़ा मायाजाल है जो हमें लुभाता है और हमारा आर्थिक दोहन भी करता है सिनेमा ने फिल्मों में जिस ग्रामीण परिवेश को दिखाया वह हमारे असली गाँव नहीं है। यह सिनेमा का दुर्भाग्य ही है कि समाज का सच दिखाने का दावा करने वाला हमारा सिनेमा हमारी भावनाओं को बेचता रहा है। गाँव के नाम पर हमेशा पंजाब की हरियाली दिखाई गई। विवशता और निरीहता को छुपा लिया गया। इसकी वजह यही है कि, सिनेमा समाज का सच दिखाने का दावा करने के बाद भी पहले एक पूंजीवादी व्यवस्था का ही हिस्सा है। वह अकूत धन लगाकर अकूत धन कमाने का माद्दा रखता है। अमूनन वह टिकट खिड़की के समीकरण पर खरा उतरने के लिए हमारी संवेदना से समझौता कर लेता है, जबकि वह चाहे तो हमारी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को विश्व स्तर पर प्रचारित – प्रसारित कर सकता है। हालांकि फिल्मों ने समाज की अच्छाई को अभिव्यक्त करने में काफी सहयोग भी किया है। समांनानतर सिनेमा की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका है। श्याम बेनेगल ने अपनी फिल्मों में प्राय; भारतीय कला माध्यम के किसी न किसी रूप को अपनी फिल्म मे स्थान अवश्य दिया है। चाहे वह प्रदर्शन कलाएँ हों या गीत। 'सूरज का सांतवा घोड़ा'में 'बिटिया त जइसे चिरईया हो रामा' कहकर ग्रामीण स्त्री के जीवन-मुक्ति की पूरी कहानी सामने रख देते हैं। 'वेलकम तो सज्जनपुर' हमे गुदगुदाती है पर हमारे ग्रामीण जीवन के अंदर की असभ्यता और अशिक्षा का पूरा दृश्य पेश भी करती है। पर यह उद्देश्य बहुत ही कम लोगों का होता है। सिनेमा मूलतः व्यवसाय ही है जिसका सबसे पहला धर्म धन ही है। बाज़ार आधारित पूंजीवादी व्यवस्था ने किस प्रकार हमारी सांस्कृतिक का दोहन किया है उसे पुरंचन्द जोशी ने बहुत बारीकी से पकड़ा है। वह लिखते है- "पूंजीवादी समाज में कल्चर इंडस्ट्री का फैलाव और पड़ाव इसी प्रक्रिया की चरम परिणिति है। पूंजीवाद और उससे जुड़े बाजारीकरण ने जहाँ एक ओर विश्वस्तर पर आर्थिक उपनिवेशवाद को जन्म दिया है वहाँ इसी के जुड़वा भाई के रुप में सांस्कृतिक उपनिवेशवाद को भी और यह आर्थिक उपनिवेशवाद के लिए उपयोगी उपनिवेशक मानसिकता की रचना करता है। वर्ण और वर्ग विभाजित समाज मे आंतरिक उपनिवेशीकरण की आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं को सुदृढ़ और शख्त करने के लिए भी संस्कृति एक कारगर यंत्र का काम करती है। इलेक्ट्रानिक मीडिया की संस्कृति जनता की अफीम है, यह विश्व के लिए ही नहीं वर्ग और वर्ण विभाजित भारत के लिए भी सौ फीसदी प्रासंगिक है।"[3]

इस प्रकार देखें तो हमारी चेतना में रचे बसे हमारे लोकजीवन को बाज़ारी व्यवस्था ने मात्र अपने हित के लिए उसे न केवल आधुनिक बनाकर बेचा बल्कि विकृत भी किया। अब समय है कि शोध संस्थाओं और संस्थाओं द्वारा भारतीय लोक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के तमाम पक्षों और विक्षिप्त पड़े भागों को शोध द्वारा पुनर्जीवित करें वरना वह दिन दूर नहीं जब हमारे पास हमारा वास्तविक कुछ नहीं होगा।

संदर्भ

1. बिज्जी की दुनिया, संजीव, दूसरी परंपरा, दिसम्बर-फरवरी-2014, पृ. 9
2. हिन्दी सिनेमा और लोक जीवन, पुनीत बिसारिया, समसामयिक सृजन, अक्टूबर-मार्च-2013-14, पृ. 115
3. पूरनचंद जोशी, हंस अक्तूबर-1997, पृष्ठ 67